वैदिक राजनः लोकहितकारी अवधारणा

डॉ. सोमे"ा कुमार सिंह
व्याख्याता – इतिहास
राजकीय महाविद्यालय सवाई माधोपुर

जब आर्य लोग इतिहास के रंग मंच पर प्रकट हुए, तो वे राजनीतिक दृष्टि से संगठित हो चुके थें। वे जनों में विभक्त थे। जन के सभी व्यक्ति प्राय : सजात[1] व सनाभ[2] समझे जाते थें। अपने जन को वे 'स्व' कहते थे और अन्य जनों के व्यक्तियों को अन्यनाभि या अरण। हो सकता है आर्यों के अत्यन्त प्राचीन जन अव्यवस्थित द"ाा में हो, क्योकि तब वे किसी प्रदे"ा पर स्थायी रूप से बसे नही थे पर जब वे कही स्थायी रूप से बस गये व उनमें उस भूमि के प्रति प्रेम उत्पन्न होने लगा तो उस भू भाग को वे जनपद कहने लगे। वैदिक संहिताओ से आर्यों के अनेक प्राचीन जनपदों या राज्यों की सत्ता का पता चलता है जिनमें भरत, त्रिस्सु, पुरू, श्रंजय, ि"ाव, गान्धार प्रमुख थे। उनके शासन का स्वरूप क्या था, इस विषय पर वैदिक साहित्य से हमें कुछ जानकारी प्राप्त होती है।

वैदिक काल में समाज का संगठन पितृमूलक, कुटुम्बमूलक था। कई कुटुम्बों से या कुलों को मिलाकर वि"ा और कई वि"ाो को मिलकर जन का संगठन होता था। कुलपतियों में से ही नेतृत्व और पराक्रम के गुणों से युक्त व्यक्ति वि"ापति का पद प्राप्त करते थे। वि"ापतियों में से इन्ही गुणों में सर्वश्रेष्ठ जनपति के उच्च पद पर आसीन होता था। इस प्रकार राजा की उत्पत्ति समाज की पितृ कुटुम्ब पद्धति से ही हुई।

राजा का वरण :–

वैदिक युग के जन के प्रमुख के लिए हमें 'राजन' शब्द का प्रयोग मिलता हैं। राजन का प्रायः वरण किया जाता था। ऋग्वेद में एक स्थल पर वि"ाों द्वारा राजा के वरण का उल्लेख मिलता हैं[3] अथर्ववेद में भी एक स्थल पर वि"ाों द्वारा राजा के वरण की कामना की गयी है।[4] पर सम्भवतः समस्त जनता प्रत्यक्ष रूप से राजा के निर्वाचन में भाग नहीं लेती थी और साधारण जनता प्राचीन रोम की क्यूरिया की तरह उनके निर्णय पर केवल सहमति देती थी।

राजा के वरण या निर्वाचन के सम्बन्ध में अथर्ववेद के निम्नलिखित मन्त्र बडे महत्व के है। सहर्ष हम तुम्हारा अपने अन्दर आवाहन करते हैं। तुम हमारे बीच में अविचल रूप से व ध्रुव होकर स्थित रहों। सब प्रजा तुम्हें चाहें, तुमसे राष्ट्र का अधिकार कभी छीनना न पड़े। यही रहकर तुम उत्कर्ष करों, कभी तुम्हारा पतन न हो, कभी तुम विचलित न हो, चन्द्र के समान तुम ध्रुव होकर रहों और इस राष्ट्र का धारण करों। ये पर्वत सुदृढ़ रूप से स्थिर है, यह पृथिवी भी स्थिर है, यह सारा जगत ध्रुव रूप से स्थिर हैं। यह धु लोक भी भली–भांति स्थिर हैं इसी प्रकार प्रजाओं में यह राजा भी ध्रुव रूप से स्थिर रहें।[5] राजा वरूण, देव, बृहस्पति, इन्द्र और अग्नि इस राजा को ध्रुव रूप से राष्ट्र का धारण करने की शक्ति दें।

अथर्ववेद के उपर्युक्त मन्त्रों से यह स्पष्ट होता है कि जब प्रजा किसी राजा का वरण करती थी तो स्वाभाविक रूप से उसकी यह इच्छा होती थी कि जिस व्यक्ति को उसने गुणों के कारण राजा स्वीकार किया है वह ध्रुव रूप से राष्ट्र का शासन करें। वह पृथ्वी, पर्वत, और घुलोक आदि के समान अपने पद पर स्थिर रहें। वरूण, वृहस्पति, इन्द्र आदि देवता उसे राजकीय पद पर स्थायी रूप से कार्य करने की शक्ति दें।

इस युग में जिस व्यक्ति का राजन के रूप में वरण किया जाता था, उससे यह आ"ाा की जाती थी, कि व ध्रुवरूप से राष्ट्र का शासन करेगा। उसे किसी नि"िचत अवधि के लिए राजपद नहीं सौंपा जाता था। इसीलिए अथर्ववेद में कहा जाता है कि हे राजन तू सप्रसन्न रूप से राष्ट्र में दसवी अवस्था तक शासन करता रहें।[6]

वैदिक काल में राजा का वरण किस तरह किया जाता था, इस सम्बन्ध में हमें कोई निर्दे"ा वेद से नहीं मिलते। अथर्ववेद में राजनः राजकृतः का उल्लेख मिलता है और धीवान, रथकार, कमरि, सूत्र तथा ग्रामणी को राजदूत कहा गया है। ग्रामणी जनपद या राष्ट्र कें अन्तर्गत ग्रामों के मुखिया का कहा जाता होगा। इस युग में ब्राम्हणों और क्षत्रियों का पृथक वर्ग के रूप में विकास नही हुआ था। उस युग में धार्मिक विधिविधान व कर्मकाण्ड अत्यन्त सरल थें और उनका अनुसरण कराने के लिए किसी पृथक पुरोहित वर्ग की आव"यकता नहीं थी। प्रत्येक जन का व्यक्ति योद्धा होता था और शस्त्र धारण करता

था पर फिर भी समाज के रथी या रथकार वि"ोष महत्व रखते थें। सम्भवतः रथी विविध प्रकार के ि"ाल्पी रथ निर्माता रहे होगें जिनकी समिति में अति महत्वपूर्ण स्थिति रही होगी।

राजा का देवत्व :–

राजा के वरण के बाद ऋग्वैदिक राज्य में राजा ही राज्य का सर्वोच्च अधिकारी होता था। वह समस्त जन के प्रतिनिधित्व के रूप में जो भी विजय प्राप्त करता था उसका सारा श्रेय उसी को प्राप्त होता था। ऋग्वेद में कई स्थानों पर हमें 'राजन' शब्द मिलता है। यही शब्द हमकों आर्यों के महान देवताओं जिनमें इन्द्र, वरूण, मित्र, अग्नि, वृहस्पति, सोम और यम के लिए प्रयुक्त मिलता है। परन्तु इन शब्दों का हमें किसी भी राजा के साथ प्रयोग नही मिलता। हां इतना जरूर है कि देवताओं की तुलना राजा के समान की गई है। उदाहरण के लिये ऋग्वेद में एक स्थान पर अग्नि को शक्ति"ाली राजा की तरह अनुयाइयों सहित जाते हुए बतलाया गया है।[7] एक अन्य स्थल पर सोम व इन्द्र को रिकं में राजा की तरह बैठने को कहा गया है।[8] ऋचाओं में मरूतों की तुलना अपराजय राजाओं के साथ की गई है। इन सभी उदाहरणों में देवताओं की तुलना राजा के साथ की गई है।[9] राजा की तुलना देवता के साथ सिर्फ एक स्थान पर की गई है। जिसमें पुस्कुस्त को अर्द्धदेव में कहा गया है। अथर्ववेद में भी केवल एक बार वह भी उत्तर कालीन सूक्तों में राजा परीक्षित मत्यों में देवता कहे गये है।[10] इन उदाहरण से यह सिद्ध नहीं होता कि उस युग में देवत्व की भावना व्याप्त थी। पुरूकुत्स को अर्ध देव सम्भवतः इस कारण कहा गया है क्योकि उनकी विधवा मां ने उन्हें इन्द्र और वरूण के वि"ोष प्रसाद से प्राप्त किया था। जिस ऋचा में परीक्षित को मत्यों में देव की उपाधि दी गई है वह सम्भवतः उनकी प्र"ांसा करने के लिए ही रची गयी थी। वैदिक वाड्मय में किसी भी राजा को यह उपाधि नही दी गई। उससे हम निष्कर्ष निकाल सकते है कि राजा के देवत्व की कल्पना राजा द्वारा उपकृत दरबारियों तक सीमित थी। अब रही बात देवताओं के राजाओं से तुलना की तो इसका कारण यह हो सकता है कि आर्य प्रत्येक देवता को राजा मानते थे[11] उसे उसी रूपों में देखते थें। देवताओं में राजत्व के अन्य कई उदाहरण भी हमकों मिलते है। ऋग्वेद में वरूण को सुनहरे आवरण में बनाए वस्त्रों में दिखाया गया है, वह अपने जासूसों से घिरा हुआ है।[12] एक अन्य स्थान पर वरूण के लिए साम्राज्य सुकत शब्द का प्रयोग किया गया है[13] जिससे प्रतीत होता है कि ऋग्वेदिक राजा भी वरूण के समान वैभव"ाली होता होगा।

राजा युद्ध का नेता :–

ऋग्वेदिक राज्य में या जन में राजा युद्ध का नेता भी होता था। आर्यो व अनार्यो के बीच संघर्ष के कई संदर्भों और ऋग्वेदिक समाज के विभिन्न जनों के बीच पाए जाने वाले उदाहरणों से पता चलता है कि राजा का मुख्य कार्य युद्ध में सेना का नेतृत्व करना होता था।[14] एक अन्य उदाहरण में हमे पता चलता है कि राजा सभी प्रकार के सैनिक कार्यो को स्वयं सम्पादित करता था।[15]

राजा कानून का संरक्षक :–

ऋग्वेदिक राज्य या जन में राजा का एक अन्य महत्वपूर्ण कार्य प्रजा का रक्षण व शान्ति बनाए रखते हुए प्र"ाासन का संचालन करना होता था। मित्र एवं वरूण के लिए प्रयुक्त घृतवृत विरूद्ध अग्नि के लिये व्रतपा, धर्मस्य गोप्ता, ध्रमाणाम इत्यादि शब्द इस बात के द्योतक है। राजा कानून का संरक्षक[16] भी होता था। राजा के सैनिक गुणों का हमें वेदिक साहित्य में कई बार उल्लेख पाते है। कोषीतकी उपनिषद में राजा के एक व्यक्ति के रूप में लड़ते हुए मरने का उल्लेख है। अथर्ववेद में[17] राजा के विरोधियों को नष्ट कर उसे सर्वोच्च स्थान पर स्थापित करन की इच्छा की गयी है।[18] अथर्ववेद में ही राजा का अपने शत्रुओं को मारने पर जयघोष किये जाने का उल्लेख मिलता है। अथर्ववेद[19] में ही हमें राजा के कुछ सैनिक गुणों का उल्लेख पाते है कि राजा चीते के समान शत्रु को गिरा देने वाला हो जो शत्रु हो उनको वह मिटा दें।[20] राजा से तप व ब्रहमचर्य युक्त होने की आ"ाा भी की जाती थी ताकि वह कर्म व आत्म नियन्त्रण के द्वारा समाज का कु"ाल नेतृत्व कर सकें। विनम्र व सु"ाील प्रजा में शान्ति व समृद्धि शालिनता ही अच्छे प्र"ाासन का मानदण्ड था। हमें एक ऐसे पति–पत्नि का उल्लेख मिलता है जो निर्विघ्न होकर राजा परीक्षित के भद्र शासन में घूमता था।[21] इसी ऋचा से पता चलता है कि राजा परीक्षित ने उन्हें जीवन की सारी आव"यकताएं उपलब्ध करवायी थी। इसी कारण वे निर्विघ्न होकर घूमते थे।

राज्यभिषेक के समय राजा की युद्ध के देवता इन्द्र व रक्षण के देवता वरूण के साथ तुलना की जाती थी। राजा का वरूण से समीकरण जो कि देवताओं में न्याय का अधिकारी था यह सिद्ध करता है कि राजा सर्वोच्च न्यायाधी"ा भी होता था जो आपराधिक मुकदमों का निबटवारा करता था। शायद स्प"ा नामक अधिकारी गुप्तचर थें जो कि प्रजा के आचरण ही निगरानी रखते थे और उग्रव व जीव ग्रम"ा पुलिस अधिकारी हुआ करते थें।[22] ऋग्वेद में हमें मध्यामति शब्द मिलता है। रोथ का[23] कथन है कि यह शब्द न्यायाधी"ा के लिए आया है। व्हीटनी ने इस शब्द का अर्थ राजा के आदमीयों द्वारा लगाए जाने वाले घेरे के अर्थ में लिया ह। कुछ विद्वानों का विचार है कि मध्यामासी शब्द प्र"ाासनिक न होकर निजि न्यायकर्ताओं अर्थात पंचों के लिए प्रयुक्त होता है।

शतपथ ब्राहमण से पता चलता है कि राजा अदण्डनीय था और वह स्वयं दण्ड धारण करता था जिससे कि समाजसकटों को दण्ड दिया जा सकें।। सभा के सदस्य जो कि सभाचर या सभासद् कहलाते थे भी न्याय का काम करते थे। हमें यह ध्यान रखना चाहिए कि ऋग्वेद में सभा शाही न्याय का केन्द्र होती थी और चूंकि राजा भी सभा का सदस्य होता था, अतः वह भी न्यायकर्ता की भूमिका निभाता था।

राजा विधि निर्माता नहीं अपितु संरक्षक :–

वैदिक साहित्य में पता चलता है कि राजा के पास विधि सम्बन्धी भी अधिकार होते थे। ऋग्वेद में धर्म शब्द बार बार प्रयुक्त हुआ है।[24] यह शब्द विभिन्न स्थानों पर विभिन्न अर्थो में प्रयुक्त हुआ है। यथा रीति रिवाज, नैतिक कानून, सामान्य कर्तव्य व नियम। कभी कभी धर्म को सूत या यज्ञ के संदर्भ में भी प्रयुक्त किया गया है। राजा प्रजा के असामाजिक व अधार्मिक कार्यो से रक्षा करता था इसीलिए वह मनुष्यों में सर्वोच्च था।[25] सम्भवतः इसी कारण वह प्रजा का प्रिय था। वस्तुतः राजा विधि का निर्माता न होकर केवल उसका संरक्षक होता था। राजा विधि को बनाए रखने वाला था, क्योकि विधि राजपद को बनाए रखने वाली थी। कोई राजपद तभी तक न्यायोचित था जब तक की राजा राजपद की उच्च परम्परा का पालन करता था। समाज ही विधि का स्त्रोत था। इसलिए राजा अनुचित कार्य नही कर सकता था। विधि के संरक्षक[26] का राजपद का यह सिद्धान्त उसके अभिषेक समारोह से स्पष्ट होता है। जिसमें राजा की पीठ पर छड़ी से हल्का प्रहार किया जाता था जो बात का सूचक था कि राजा पवित्र नियमों को बनाए रखने वाला है अतः वह दण्ड से क्षम्य है, अदण्डय है।[27]

यह कहा जाता है कि राजा सर्वोच्च कार्यकारी अधिकारी था, युद्ध का सर्वोच्च सेनापति, प्र"ाासनिक मुखिया व सर्वोच्च न्यायधी"ा था। ऋग्वेद काल में राजपद का स्वरूप लोकप्रिय एवं लौकिक था। राजा भक्त की रक्षा के लिए शत्रुओं के विना"ा के लिए एवं धर्म को बनाए रखने के लिए आव"यक था। परन्तु उत्तर वैदिक काल में राजपद नामक संस्था धर्म के साथ बहुत अधिक संयुक्त हो गयी और उसके साथ धार्मिक कर्मकाण्ड जुड गए। लोकप्रिय अनुष्ठानों में राजसूर्य, बाजपेय एवं अ"वमेघ सभी धार्मिक रंगों में रंग दिये गये । उदाहरण के लिए ऋग्वेद में अ"वमेघ यज्ञ में हमे केवल 6 पुजारी होता, अ"वर्य, आवया, अग्निमेघा, ग्रेन ग्राम और संस्तर मिलते है, जो सम्पूर्ण अ"वमेघ यज्ञ को पूरा करते थे।[28] किन्तु ब्राम्हाण युग में यज्ञ काफी महगें व लम्बे चलने वाले हो गए थे। इससे धार्मिक कृत्यों में जटिलता उत्पन्न हुई जिससे वैदिक काल म लोगों में काफी परिवर्तन हुआ। धार्मिक कर्म काण्डों की नई व्यवस्था से जटिल जातियों की उत्पत्ति हुयी और वर्ण व्यवस्था पनपी व ब्राम्हण देवों में श्रेष्ठ कहे जाने लगे।[29] ऋग्वेदिक काल के लोकप्रिय अनुष्ठानों को धार्मिक कर्मकाण्डी रूप प्रदान किया गया और राजसूय और बाजपेय आदि अनुष्ठानों का राजपद के लिए आव"यक बनाया गया जिससे अततः राजपद धर्म की सहायक संस्था के रूप में उत्तर वैदिक समाज में स्थापित हुआ। इस धार्मिक विधि और विधानों के उत्तरोत्तर बढ़ते प्रभाव से ब्राम्हण काल तक आते आते ऐसा वातावरण बनने लगा जिससे राजा के देवत्व की भावना पनप सकती थी। युद्ध में विजय इन्द्र देवता की कृपा का फल कहा जाता था, और इन्द्र की उपाधियां पूरी तरह राजा के उपर आरोपित की जाती थी। राज्याभिषेक के समय पुरोहित कहते थे कि भगवान सविता के आदे"ा पर ही अभिषेक किया जाता है और माना जाता था कि यह अभिषेक के समय राजा के शरीर में अग्नि सविता और बृहस्पति देवता प्रवे"ा करते है। अ"वमेघ व बाजपेय यज्ञ द्वारा राजा को देवता का पद मृत्यु के बाद प्राप्त होता है।[30]

किंतु ब्राह्मण काल में हिंदू ग्रंथ कारों ने राजपद को देवी बताया है। बाद के काल में राजपद को देवी मानने के पीछे यह भी कारण हो सकता है कि उससे राजा की आज्ञाओं का पालन अधिक अच्छी तरह से हो सकता था। किंतु राजा यदि धर्मशील हो तो वह धर्म शास्त्र के सहारे से वह अपने दुराचार या जुल्म का समर्थन नहीं कर सकता उसे धर्मशास्त्र ने राक्षस का अवतार माना है।

वैदिक काल में राजा धर्म का रक्षक पोषक और समर्थक समझा जाता था। वैदिक काल में राजा का आदर्श भक्त और धर्म की रक्षा करने वाले धृतव्रत वरुण देव थे । राजा केवल लाक्षणिक रूप से देवआ"ाी था। मगर विधि नियम साक्षात देवप्रदत्त माने जाते थे और यह अनिवार्य होता था कि राजा उनका पालन करें।

वैदिक काल के राजा की शक्तियां विभिन्न प्रकार की थी और वह अनेक प्रकार के कार्य करता था परंतु मनुष्य स्वभाव दुर्बल है और औसत दर्जे के राजा से राज्य पद के उच्च आदर्शों की आशा नहीं की जा सकती थी। यह सच है कि प्राचीन वैदिक साहित्य में राजशक्ति के ऊपर वैधानिक रोक का कोई उल्लेख हमको प्राप्त नहीं होता किंतु समिती कुछ सीमा तक राजा को निरंकुश या कर्तव्य भ्रष्ट होने से रोक रोकती थी। कुछ वैदिक उदाहरणों से पता चलता है कि समिति के प्रतिकूल होने पर राजा का अपने पद पर रहना कठिन होता था तथा राजा पूरी तरह समिति पर निर्भर था। ऋग्वेद के एक मंत्र में उल्लेख है कि राज्य सत्ता को हस्तगत करने की इच्छा से एक नेता ने समिति को भी अपने वश में करने की योजना बनाई थी। ऋग्वेद[32] के एक स्थल पर आदर्श राजा ने अपनी समिति में जाने की इच्छा प्रकट की थो। अथर्ववेद[33] से पता चलता है कि समिति राजा को पदच्युत भी कर सकती थी। इस ऋचा में पदच्युत राजा अपने सिंहासनारूढ़ होने पर सबसे पहले यही आकांक्षा करता है कि मेरी समिति सदा मेरी बनी रहे। ब्राहम्ण धन का अपहरण करने वाले राजा को यही श्राप दिया जाता था कि तुम्हारी समिति तुम्हारा साथ न दे।[34] स्पष्ट है कि यह संस्था अत्यंत प्रभावशाली थी। इसके समर्थन पर राजा का भविष्य निर्भर रहता था समिति के विरुद्ध हो जाने पर राजा की स्थिति अत्यंत संकट पूर्ण हो जाती थी। खोए हुए राज्य को फिर से प्राप्त करने वाले राजा की स्थिति तब तक सुदृढ नहीं मानी जाती थी जब तक कि समिति उससे सहयोग करने को तैयार ना हो जाए। समिति राजा का बहुत बड़ा सहारा मानी जाती थी ऋग्वेद[35] में उल्लिखित है कि एक राजा ने अपनी विपक्षियों के विनाश की प्रार्थना की थी तथा दावा किया था कि उसने उनके चित्त उनकी जीवन पद्धति और उनकी समिति पर आधिपत्य कायम कर लिया है। सीमित समिति पूर्व वैदिक काल ही की राजव्यवस्था का ऐसा अंग थी कि उसके बिना राजा की कल्पना नहीं की जा सकती थी।[36] भैंस के लिए जिस तरह वन था, सोमरस के लिए जिस तरह घड़ा था उसी तरह राजा के लिए समिति थी।

समिति के नियंत्रण के अलावा राजा के ऊपर अन्य नियंत्रण भी थे। ये नियंत्रण राजा को निरंकुश होने से रोकते थे तथा कर्तव्य की ओर प्रेरित करते थें। इन नियंत्रण को हम धार्मिक नियंत्रण भी कह सकते हैं। इनका प्रभाव भी उतना अधिक होता था कि कोई भी राजा इनका उल्लंघन करने का साहस नहीं कर सकता था। इसमें सबसे प्रमुख प्रतिबंध ऋत की अवधारणा थी। ऋत की अवधारणा उस काल के लोगों की सैद्धान्तिक मान्यताओं की ओर संकेत करती है। अब प्रश्न उठता है कि ऋत क्या थी? विंटरनिट्स, मैकडॉनल्ड, कीथ आदि सभी ने ऋत की व्याख्या सृष्टि की नियमितता, भौतिक एवं नैतिक व्यवस्था, अंतरिक्ष की नैतिक व्यवस्था से की है। वस्तुतः ऋत नीति नियम होते थे। देवता नीति नियमों का पालन करने तथा कराने वाले होते थे। ऋत का अर्थ होता है जगत की व्यवस्था इसे प्राकृत नियम भी कहा गया है। सूर्य चंद्रमा तारे दिन–रात आदि इसी नियम द्वारा संचालित है। यह नियम देवताओं को भी नियमित करता है। ऋत का संचालक वरूण को माना गया है। आगे चलकर ऋत सिद्धांत कर्म सिद्धांत को जन्म देता हैं। कर्म सिद्धांत के अनुसार जैसा हम बोते हैं वैसा ही काटते हैं। वैदिक राजा यदि इसी ऋत की अवधारणा से बंधा था। वह ऋत की परंपराओं का उल्लंघन नहीं कर सकता था। समाज उससे यह आशा करता था कि वह देवताओं की भांति भूतल पर भी ऋत को लागू करेगा। राजा का पूरा प्रयास यही रहता था कि वह ऋत की अवधारणा का पालन करें। ऋत का उल्लंघन करने पर राजा को जन विरोध का सामना करना करना पड़ता था। लोकमत राजा को न्याय पर रहने को बाध्य करते थे।

निष्कर्ष :– इस तरह हम देखते हैं कि राजा सर्वाधिकार संपन्न होते हुए भी स्वतंत्र नहीं था। वह प्रत्यक्ष अप्रत्यक्ष रूप से अनेक प्रकार के प्रतिबंधों से वह बंधा हुआ था। व्यवहार में राजा के ऊपर जो सीमाएं थी उनका संक्षिप्त विवेचन इस प्रकार किया जा सकता है। सर्वप्रथम राजा धर्म के अधीन होता था। राजा स्वयं धर्म का पालन करता था और प्रजा से भी धर्म का पालन कराता था। अधिकतर कानूनों का स्रोत धार्मिक तथा सामाजिक परंपराएं थी राजा इन्हीं के अनुसार आदेश आज्ञा निकालता था। राजा को सदैव स्वर्ग नरक का ध्यान रखना होता था। दूसरे वैदिक काल में राजा का वरण किया जाता था बाद के काल में राजा के वरण की परंपरा तो नहीं रही किंतु युवराज अथवा उत्तराधिकार के नियुक्ति के समय प्रजा की सहमति का ध्यान रखा जाता था। तीसरे वैदिक काल में समिति व सभा जैसी लोकप्रिय संस्थाएं थी और पुरोहित तथा मंत्री राजा के परामर्शदाता होते थे। राजा उनके विरूद्ध कोई काम नहीं करता था कालांतर में समिति व सभा का स्थान राज्यसभा व दरबार ने ले लिया परंतु पुरोहित और मंत्रियों का महत्व कम नही हुआ चौथे यह सभव हो सकता है कि राजा के वरण के बाद वह राजपद की शपथ लेता हो बाद के काल में तो हमें शपथ का उल्लेख मिलता है। इस तरह राजा शपथ से भी बंधा रहता था। पाँचवे राजा को देवांश मानते हुए भी देवत्व का महत्व राजा को व्यक्तिगत रूप में नहीं बल्कि उसके पद को दिया जाता था। पाश्चात्य जगत की भांति भारतीय धर्म शास्त्रियों तथा विचारको ने राजा को चाहे जैसा भी शासन करने का देवी अधिकार कभी भी प्रदान नहीं किया है। छठे राजा के पक्ष में भारतीय प्राचीन भारतीयों की धारणाएं अति उच्च थी उसे प्रजा रक्षक प्रजा पालक प्रजापिता सवक और प्रजा के हितों का थाती समझा जाता था। अतः साधारणतः हम वैदिक राजा को स्वैच्छाचारी था अत्याचारी नहीं कह पाते और अंत में यदि कोई राजा स्वेच्छाचारी या अत्याचारी बन भी जाता था तो प्रजा की सहमति से उसे हटाने का नैतिक व धार्मिक अधिकार प्राप्त था इस बात के अनेक प्रमाण हमको वैदिक ऋचाओं में मिलते है।

संदर्भ ग्रन्थ

1. अथर्ववेद 3.3.5 अथर्ववेद 1.9.4
2. भैमं सनाभिस्त वान्यनाभिमें मं प्रापत् पौरूभवे वधौ यः , अथर्ववेद 3.30.6
3. ऋग्वेद 10.173
4. अथर्ववेद 3.4.2 ''त्वां वि"ाो वृपणं राज्यायः प्रदि"ाः पंचदेवीः बर्ष्मन राष्ट्रथ ककुदि प्रक्षयरव ततो न उग्रा विभजा वसूनि''
5. अथर्ववेद 6/87/1–2
   वि"ास्त्वा सर्वा वाज्छन्तु मा त्वद्रामधि भ्रवत्
   इहै वैग्धि मापच्योष्ठा : पर्वत इवाविवाचलि :
   इन्द्रे हैव ध्रुवरितष्ठैह राष्ट्र मुधारता'' !!
   6/88/1–2
   ध्रुवा धौर्ध्रुवा पृथिवी ध्रुवं वि"वमिंद जगत

ध्रुवासः पर्वाता इमे ध्रुवों राजा वि"ामयम
6. अथर्ववेद 3.4.7 द"ामीमृग : सुमता व"ोह
7. ऋग्वेद 4,4.1
8. ऋग्वेद 9,7.5

10,43.2

9. ऋग्वेद 1,85.8
10. ऋग्वेद 1,25.15
11. ऋग्वेद 1,28.10
12. ऋग्वेद 7,33.3 : 7.33.5 : 7,83.8
13. ऋग्वेद 10,75.4
14. ऋग्वेद 1,25.8—1.15.6
15. 8,23.14
16. कोषुतकी उपनिषद
17. अथर्ववेद 1.94
18. अथर्ववेद 4,8.2
19. अथर्ववेद 4,22.7
20. ऋग्वेद 11,5.17
21. अथर्ववेद 20,127.7—10
22. ऋग्वेद 7,47.11
23. चक्रवर्ती हरिपद पॉलिटिकल एण्ड लीगल इन्सस्ट्र"ान इन दि वैदिक लिटरेचर, कलकत्ता 1981, पृष्ठ 126
24. चक्रवर्ती हरिपद, पॉलिटिकल एण्ड लीगल इन्सस्ट्र"ान इन दि वैदिक लिटरेचर, कलकत्ता 1981, पृष्ठ 126
25. ऋग्वेद – 3,17.1:7.89.5:8,98.1:10,56.3
26. ऋग्वेद 10,174.5
27. ऐतरेय ब्राहम्ण 8.12
28. ऋग्वेद 1,162.5
29. सामवेद 2,2.2.6 : तैतरीय संहिता 1.7.3.1
30. एतरेय ब्राहम्ण , 8.2
31. शतपथ ब्राहम्ण 12.4.3 तैतरीय ब्राहम्ण 18.10.10
32. ऋग्वेद 10.166.4 आ व ि चन्त आ वो गत आ वो हं समिति ददे
33. अथर्ववेद 6,88.3 ध्रुवाय : ते समिति कल्पतामिह
34. अथर्ववेद 5,19.15 नास्मै : समिति : कल्पतें न मित्र नयतें व"ाम
35. ऋग्वेद 10,196.4
36. ऋग्वेद 9,92.6